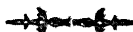
श्रीसर्वेश्वरो जयति ।

श्रीमद्भगवते श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः ।

श्रीहंसावतारचरित ।



श्रीमत्स्वभूदेवाचार्यवंशज

श्रीकिशोरीलालगोस्वामी ने

श्रीपण्डित किशोरदासजी की सहायता से लिखा ।



"कृष्णहंसः स्वशिष्येभ्यो गुह्यतत्त्वमुवाच यत् ।

तदादरेण तद्भक्ताः प्रीत्या शृणुत धत्त च ॥"

(श्रीमद्भागवतटीकाकारः श्रीशुकदेवाचार्यः)



("वैष्णव-सर्वस्व" मासिकपत्र से उद्धृत)

श्रीछबीलेलालगोस्वामि द्वारा

श्रीसुदर्शनप्रेस वृन्दावन से

छापकर प्रकाशित ।

सन् १९१८ ई०



प्रथमबार ५०० | संवत् १९७४ वैक्रम | मूल्य प्र० पु० चार आने ।

श्रीहरिः शरणम् ।

समर्पण ।

"नीरक्षीरविवेके, हंसालस्यं त्वमेव तनुषे चेत् !
विश्वेऽस्मिन्नधुनाऽन्यः, कुलव्रतं पालयिष्यति कः ?"

(श्रीगोवर्द्धनः

प्रभो, भगवन्, सर्वेश्वर ! यह मायामय संसार आपही का कुतूहलमात्र है । इसके विश्लेषण का उपदेश जिस प्रकार आपने श्रीसनकादिकों के प्रति करके उनको जिन विषयों से पृथक् किया था, उसी प्रकार की आज्ञा भवदीय दासानुदास मादृशजन क्या नहीं कर सकते ? अस्तु, यह बात आपही की इच्छा पर छोड़कर यह आपही का विलास आपही को समर्पित है । इसके फलप्रदान करने के समय,— 'यथेच्छसि तथा कुरु,' —क्योंकि,—" त्वया हृषीकेश ! हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।"

फाल्गुन शुक्ला ११
संवत् १९७१
श्रीवृन्दावन-धाम

तच्चरणानुगामिजन-शरणानुगामी,
श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी ।

श्रीः ।

श्रीहरिः शरणम् ।

श्रीमते निम्बार्काय नमः ।

श्रीहंसावतार-चरितम् ।

(तत्रादौ)

अथ सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक-श्रीहंसप्रणिपत्ति-स्तोत्रम् ।

हंसस्वरूपं रुचिरं विधाय,
य: सम्प्रदायस्य प्रवर्त्तनार्थम् ॥
स्वतत्त्वमाख्यात्सनकादिकेभ्यो,
नारायणं तं शरणं प्रपद्ये ॥ १ ॥

रुचिर रूप धरि हंस को,
सम्प्रदाय-हित जौन ॥
कह्यौ,-'तत्त्व'-सनकादिकनि,
सरन गह्यौ, प्रभु, तौन ॥ १ ॥

जिन्होंने रमणीय 'हंस'-स्वरूप धारण करके 'सम्प्रदाय'-प्रचलित करने के लिए चतुःसनकादिकों से निज 'तत्त्व' को कहा, उन श्रीनारायण के शरण में हम प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

यदीयपादाम्बुजभृङ्गभावं,
जनो दधानो जगतीतलेऽस्मिन् ॥
स्वर्गापवर्गौ मनुतेऽतितुच्छौ,
श्रियः पतिं तं शरणं प्रपद्ये ॥ २ ॥

गहि जेहि, पदपंकजमधुप-
भाव, मनुज, जग माँहिं ॥
तुच्छ, स्वर्ग-अपवर्ग, गन,
हौं, तेहि, सरनन आँहि ॥ २ ॥

जिनके चरणारविन्द के मधुकर-भाव को प्राप्त होकर मनुष्य इस संसार में स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) को तुच्छ समझने लगता है, उन श्रीपति के शरण में हम प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

कारुण्यपीयूषसरित्पतित्वं,
स्वकीयभक्तेषु सदा दधानम् ॥
मनोज्ञलीलं कमनीयशीलं,
प्रिया निकेतं शरणं प्रपद्ये ॥ ३ ॥

करुन-सुधा-सरि-पति-सरिस,
नित, स्वभक्त-हित, जासु ॥
लीला रुचिर, सुभाव सुभ,
अहौं, सरन, हौं, तासु ॥ ३ ॥

निज भक्तों पर सदा कारुण्यरूपिणी सुधानदी के स्वामित्व के भाव को धारण करनेवाले अर्थात् निज भक्तों के लिए करुणा-सागर, मनोहर लीला करनेवाले और वाञ्छनीय स्वभाववाले श्रीनिवास के शरण में हम प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

सतां परित्राण-परायणो यः,
करोति नानाविध-मर्त्यलीलाम् ॥
स्वधर्म-संस्थापन-सत्प्रचित्तं,
तं देवदेवं शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

रचै, मनुज-लीला, बिबिध,
निज-जन-रच्छन-हार ॥
मन, स्वधर्म-थापन-निरत,
तासु, सरन, हम, धार ॥ ४ ॥

सज्जनों की रक्षा में तत्पर होकर जो नाना प्रकार की मनुष्य-लीलाएं करते हैं, उन स्वधर्म-संस्थापनमें आसक्त-चित्त, देवाधिदेव के शरण में हम प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

न धर्मनिष्ठां दधदास्मि नात्म-
विज्ञानवानस्मि न भक्तिमांश्च ॥
अतीव दीनो भगवन् ! सदाऽहं,
त्वां दीनबन्धुं शरणं प्रपद्ये ॥ ५ ॥

धर्मभाव नहिं मोहि, अरु,
ज्ञानी नहिं, नहिं भक्त ॥
दीनबन्धु ! हौं दीन अति,
या हित सरनासक्त ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! हम न तो धर्म में निष्ठा रखते हैं, न हममें आत्म-ज्ञान ही है और न हम भक्तियुक्त ही हैं; हम सदा से अत्यन्त दीन हैं, (इस लिये) आपको दीनबन्धु जानकर शरणागत होते हैं ॥ ५ ॥

तरङ्गभागास्मि सतान्न सङ्गे,
नाङ्गीकृतार्णाश्वर ! 'ते प्रसङ्गे ॥
मनो न लग्नं' मम देहभङ्गे,
कीदृग्गतिः स्याद्वद तां न जाने ॥६॥

हौं सतसंगहिं चपल, मन-
नहिं तुव लगै कथान ॥
सुभ्रूवसन ! कहु, देहताज,
का गति ? हौं नहिं जान ॥ ६ ॥

हे शुक्लाम्बर ! सत्सङ्ग के समय तो हम अत्यन्त चञ्चल होते रहते हैं और आपकी कथा के प्रसङ्ग में हमारा मन नहीं लगता; तब बताइये,—देहपात होने पर हमारी क्या गति होगी, यह हम नहीं जानते ॥ ६ ॥

लोकत्रये यान्यसदीहितानि,
तान्येव सर्वाणि मया कृतानि ॥
तदीयपाकावसरं विसोढु-
मशक्नुवन् देवमुपैमि नाथ ! ॥ ७ ॥

जो अकर्म तिहुंलोक महं,
सो सब हम बहु कीन ॥
सहि न तासु, फल-भोग-छन,
आयो तुव ढिग दीन ॥ ७ ॥

हे नाथ ! त्रैलोक्य में जितने कुत्सित कर्म हैं, वे सभी हमारे किए हुए हैं, किन्तु उन कुकर्मों के फल भोगने के अवसर को सहन करने में असमर्थ होकर हे देव ! हम दीन भाव से आप के शरण में आए हैं ॥ ७ ॥

वशीकृतिं यान्ति न हीन्द्रियाणि,
बुद्धिर्न शुद्धिं समुपैति तस्मात् ॥
न साधनं मेऽस्ति तव प्रसादे,
दयालुभावेन विना हरे ! ते ॥ ८ ॥

नहिं इन्द्रिय बसमहँ, मतिहु,
नहिं निरमल, या हेत ॥
मोहि न तुव रिझवन-जुगुति,
बिन तुव दया-निकेत ॥ ८ ॥

हे हरे! इन्द्रियगण हमारे वश में नहीं आते, अतः हमारी बुद्धि भी शुद्धा नहीं होती; इस लिये अब आपकी दयालुता के बिना हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है, जिससे हम आपको प्रसन्न कर सकें ॥ ८ ॥

इति श्रीमदनन्तरामदेवाचार्य विरचित–श्रीहंसावतार-प्रणिपत्ति-स्तोत्र की श्रीमत्स्वभूदेवाचार्यवंशज–श्रीकिशोरीलाल गोस्वामिकृत दोहामयी टीका तथा भाषाटीका समाप्त हुई।



श्रीहरिः शरणम्।

अथ हंसावतार-चरितं प्रारभ्यते।

(तत्र ध्यानम्)

शुद्धस्फाटिकदिव्यचारुवपुषं, दिव्याङ्गभूषाम्बरम्।
पद्मालङ्कृतचारुबाहुनिकरं, ब्रह्मेशशेषार्च्चितम् ॥
तत्त्वातत्त्वविवेचनाय निपुणं, कारुण्यसिन्धुं मुदा,
तं श्रीमाधवमादिबीजमनिशं, हंसावतारं भजे ॥

अर्थ,—शुद्धस्फटिक के समान सुन्दर शुक्लवर्ण, दिव्य अङ्ग में सुन्दर भूषण और वसन धारण किए हुए, पद्म, चक्र, गदा, शंख इन चारों आयुधों से शोभायमान चारों बाहु, ब्रह्मा, शिव और शेष से पूजित, तत्त्व और अतत्त्व के बिचार करने में परम कुशल, करुणासागर, कृष्णावतार श्रीहंसस्वरूप का हम नित्य भजन करते हैं।

अथ चरितारम्भः ।

(प्रार्थना)

कृते योगप्रश्ने सदसि तनयैर्मोहजलधौ,
निमग्नं धीमान्द्यात् कमलजनुषं वीक्ष्य कृपया ।
प्रकाश्य स्वात्मानं सकलसनकादीनुपदिश,-
न्नहार्षीद्योऽज्ञानं कृपयतु स हंसो मयि सदा ॥१॥

अर्थ,—कमलासन श्रीब्रह्माजी से उन के मानसिक पुत्र चारों सनकादिकों ने योगविषयक प्रश्न किया, तब श्रीब्रह्माजी बुद्धि की जड़ता वश उस प्रश्न के उत्तर के हेतु को न जानकर मोहरूपी समुद्र में निमग्न हुए । यह देख परम कारुणिक भूमा भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने कृपया हंसस्वरूप से प्रगट होकर सनकादिकों को तत्त्वज्ञान का उपदेश कर उनके हृदयस्थ सम्पूर्ण अज्ञान को दूर किया, वे श्रीहंस भगवान् हमारे ऊपर सदा कृपा किया करें ।

सृष्टि के आदि काल में, ब्रह्मा से श्रीसनक, श्रीसनन्दन, श्री सनातन और श्रीसनत्कुमार ये चारों मानसिक पुत्र उत्पन्न हुए थे उनसे जब ब्रह्मा ने सृष्टि के निमित्त तपस्या करने के लिये कहा तो उन चारों ने ब्रह्मा की बहुत प्रकार से स्तुति कर उन्हें प्रसन्न कर यह वर मांगलिया कि हमारी सदा पांच ही वर्ष की कुमार अवस्था बनी रहै और हमें सांसारिक द्वंद्वज भाव न व्यापैं । इसके अनन्तर श्रीसनकादिकों ने (१) बहुत काल पर्य्यन्त तपश्चर्या करके भी जब परमात्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान को न पाया, तब उन चारो ने जाकर अपने जनक श्रीब्रह्माजी से परमात्मतत्त्व के विषय में प्रश्न किया, किन्तु उस प्रश्न का विचार करने पर भी कर्म से

---

(१) चारों सनकादिकों के चरित हम आगे स्वतंत्र रूप से लिखेंगे ।

विक्षिप्त बुद्धि होने के कारण उस प्रश्न का उत्तर वे न देसके, क्योंकि परमात्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण केवल परमात्मा ही कर सकते हैं, अतएव अपने मानसिक पुत्र चारों सनकादिकों के अज्ञात प्रश्न का उत्तर वे न देसके और इसीलिये वे अत्यन्त खिन्न होकर मनसे श्रीभगवान् वासुदेव के शरण में प्राप्त हो निवेदन करने लगे कि-"हे भगवन् ! आज इस समय आप मेरी लज्जा रखलें, क्योंकि पुत्रों के प्रश्न का उत्तर पिता न दे सके, इससे बढ़कर और कौनसी लज्जा की बात होसकतीहै, इत्यादि" इस प्रकार ब्रह्मा को अत्यन्त कातर और स्वपुत्रों के उस प्रश्न के उत्तर देने में अपारग समझ कर श्रीभूमा भगवान् श्रीकृष्ण दीप्तिमान् हंस के स्वरूप को धारणकर वहांपर सहसा प्रगट होगए, जहां पर कमलासन ब्रह्मा अपने नतकन्धर और बद्धाञ्जलि चारों पुत्रों के सन्मुख अवस्थित थे।

कोटि सूर्य के समान अत्यन्त प्रभामय रूप धारण किए हुए श्रीहंसरूप को देख ब्रह्मा और उनके मानसिक पुत्र सनकादिक चमत्कृत हो निर्निमेष लोचनों से उस दिव्य स्वरूप की ओर देखने लगे, और सनकादिक अपने मन में यह विचारने लगे कि, 'अब कदाचित् हमारे पिता इन दिव्यस्वरूप से कुछ प्रश्न करेंगे; किन्तु जब देरतक ब्रह्मा कुछ न बोले और बद्धाञ्जलि तथा नतकंधर हो श्रीहंसरूप भगवान् के सन्मुख खड़े रहे, तब सनकादिकों ने ही श्रीहंसभगवान् से प्रश्न किया, जिसे हम आगे लिखते हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध के त्रयोदश अध्याय में उद्धवजी के प्रश्न करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पुरातन इतिहास का उल्लेख किया है,—

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से परमात्मतत्त्व का निरूपण करते हुए अन्त में यों कहा कि,—हमारे शिष्य सनकादिकों ने भी सर्व-प्रथम, अर्थात् सृष्टि के आदि काल में यही उपदेश किया

है कि सब ओर से मन को आकृष्ट कर हममें लगावै। (१)

उक्त कथन का भाव यह है कि प्रथम भगवान् ने सनकादिकों को उपदेश किया और फिर सनकादिकों ने समस्त संसार को वही उपदेश किया।

इससे यह स्पष्टतया सिद्ध हुआ कि श्रीसनकादिक भगवान् के सर्व प्रथम शिष्य एवं परमात्मतत्त्व के आदि आचार्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के उक्त कथन को सुनकर श्रीउद्धवजी ने यह बात पूछी कि हे केशव! आपने जब और जिस रूप से सनकादिकों को परमात्मतत्त्व का उपदेश किया, आपके उस रूपके जानने की मेरी इच्छा है। (२)

भगवान् ने कहा कि 'हे उद्धव! ब्रह्माके मानस पुत्र सनकादिकों ने अपने पिता (ब्रह्मा) से भगवत्तत्त्व-विषयक योग के सूक्ष्म साधन को पूछा—(३)

सनकादिकों ने ब्रह्मा से प्रश्न किया कि हे प्रभो! गुणों अर्थात् विषयों में अनादि-संस्कार-विशिष्ट चित्त का प्रवेश होता है और वे विषय, वासनाबद्ध होने से चित्त में प्रविष्ट होते हैं, तब संसार से मुक्त होने की इच्छा करने वाले मनुष्यों का चित्त विषयों से कैसे

---

(१) एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धा वेश्यते यथा॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १४)

(२) यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम्॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १५)

(३) पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १६)

छुटकारा पा सकता है ? (१)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से बोले कि, 'हे उद्धव! सनकादिकों के ऐसे आश्चर्यजनक एवं अश्रुतपूर्व प्रश्न को सुनकर सृष्टि के रचनेवाले, देवाधिदेव, स्वयम्भू, ब्रह्मा यह विचारने लगे कि,— 'इस प्रश्न का क्या उत्तर है!' किन्तु कर्म में आसक्त-बुद्धि होने के कारण वे उस गुरु-गम्भीर प्रश्न का उत्तर नहीं देसके। (२)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहने लगे कि, 'सनकादिकों के उपर्य्युक्त अद्भुत प्रश्न के उत्तर देने में असमर्थ होकर उस प्रश्न के उत्तर देने की कामना से ब्रह्मा मन ही मन हमारा ध्यान करने लगे, तब हम हंसस्वरूप धारण कर, ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के समीप आविर्भूत हुए।' (३)

उपर्य्युक्त कथन का भावार्थ यह है कि निज मानस-पुत्रों के भगवदिच्छा से किए गए प्रश्न के उत्तर देने में अपारग होकर ब्रह्माजी मन से श्रीवासुदेव-भगवान् के शरण में प्राप्त हुए, जैसा कि हम अभी ऊपर कह आए हैं; अतः ब्रह्माजी के वैसे विनीत भाव को जानकर अन्तर्यामी श्रीभगवान् वासुदेव सत्यलोक में ब्रह्मा और सनकादिकों के सन्मुख सहसा दिव्यातिदिव्य, दीप्तिमान्, रुचिर

---

(१) गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो!
कथमन्योऽन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १७)

(२) एवं पृष्टो महादेवः स्वयम्भूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १८)

(३) स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा।
(भा० ए० अ० १३ श्लो० १९)

एवं अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व और अचिन्त्यपूर्व हंसस्वरूप (१) धारण कर सहसा प्रकट हुए। (२)

भगवान् ने कहा कि, 'हे उद्धव! तदनन्तर ब्रह्मा के मानसिक पुत्र सनकादिक ने हमें देख, हमारे समीप आ, हमारे चरणारविन्द की वन्दना कर और ब्रह्मा को आगे करके,—" को भवान्—आप कौन हैं?"—ऐसा प्रश्न किया। (३)

यहाँ पर यह एक आवश्यक बात समझ लेने की है कि श्रीहंस भगवान् के महादेदीप्यमान स्वरूप को देख सनकादिकों ने उन की अलौकिक प्रभा से धर्षित होकर उन्हें ईश्वरभावना से साष्टाङ्ग

---

(१) हंसस्वरूप आपने इसलिए धारण किया,—जैसा कि लोक में दृष्टान्त है,—कि जैसे मिले हुए नीर, (जल) और क्षीर (दूध) को अलग करने में हंस ही समर्थ है, वैसे ही श्रीभगवान् वासुदेव भी विषयों से चित्त को पृथक करने में सर्वथा समर्थ हैं; इसी लिए आपने 'लोकख्याति' अर्थात् 'लौकिक-दृष्टान्तवत्' विषयों से चित्त के पृथक्करण के उपाय बतलाते हुए स्वीयतत्त्व (परमात्म-तत्त्व) निरूपण करने के लिए श्रीहंसस्वरूप को धारण करना ही परमोचित और समीचीन समझा।

(२) भविष्यपुराण में लिखा है कि,—"ऊर्जे सिते नवम्यां च हंसो जातः स्वयं हरिः। तत्त्वज्ञानोपदेशाय सर्वलोकहिताय च॥" अर्थात् "कार्त्तिक-शुक्ला नवमी (अक्षयनवमी) के दिन स्वयं भगवान् श्रीवासुदेव हंसरूप से तत्त्वज्ञानोपदेश और सर्वलोक के हित के लिए प्रकट हुए।" अतएव कार्त्तिकशुक्ला अक्षयनवमी के दिन 'श्रीहंसजयन्ती' का विशेषरूप से यथाविधि महा महोत्सव साम्प्रदायिक सज्जन वैष्णववृन्दों के लिए अवश्यमेव कर्त्तव्य है।

(३) मां दृष्ट्वा त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २०)

प्रणाम तो कर दिया, परन्तु फिर भी भगवान् की इच्छा से ही सनकादिकों के मन में इस बात का कुछ कुछ संशय बना ही रहा कि, अहो! ये अतिदीप्तिमान तेजोपुञ्जस्वरूप ईश्वर हैं, अथवा कोई जीव हैं!' सो, जब उन चारों महामुनीश्वरों के मन में ऐसा भाव उत्पन्न हुआ, तब वे यह बात विचारने लगे कि,—'अब हमारे पूज्य श्रीपितृचरण (ब्रह्मा) इन दिव्यस्वरूप से यह पूछकर—कि,—'आप कौन हैं!'—इस बात का निर्णय कर देंगे कि,—'ये कौन हैं? किन्तु जब ब्रह्माजी भी उन दिव्यातिदिव्य-वपुधारी श्रीहंसभगवान् के महादीप्तिमान् स्वरूप की अलौकिक प्रभा से धर्षित और अभिभूत होते हुए संशय-ग्रसित हो, चुपचाप नतकन्धर होकर खड़े रहे और उन दिव्य-देहधारी श्रीहंसस्वरूप के विषय में वैसी ही संशयभरी बातें मन ही मन सोचने लगे, जैसी कि सनकादिक सोच रहे थे; तब विलम्ब को न सहकर सनकादिकों ने भगवदिच्छा से प्रेरित होकर चटपट स्वयं ही उक्त प्रश्न कर दिया था, जो ऊपर लिखा जा चुका है।

अस्तु, यहांतक भगवान् के श्रीमुख-वचन को सुनकर उद्धवजी यह पूछा ही चाहते थे कि,'प्रभो! तदनन्तर आपने सनकादिकों के उस प्रश्न का क्या उत्तर दिया?' कि उन (उद्धव) के हार्दिक अभिप्राय को समझकर भगवान् कहने लगे कि, 'हे उद्धव! जब तत्त्वजिज्ञासु मुनियों (सनकादिकों) ने इस प्रकार हमसे पूछा कि, 'आप कौन हैं?' तब हमने उनके प्रश्न का जो कुछ उत्तर दिया था, उसे तुम सुनो। (१)

भगवान् श्रीकृष्ण चतुःसनकादिकों के उपर्य्युक्त प्रश्न का जो कुछ उत्तर देंगे, उसके उल्लेख करने के पहिले हम यहां पर कुछ

(१) इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव! निबोध मे॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २१)

निवेदन किया चाहते हैं । वह यह कि श्रीभगवान् सनकादिकों के उक्त प्रश्न (को भवान्,–अर्थात् आप कौन हैं) का वास्तविक अभिप्राय जानते थे, क्योंकि यह सब आप ही की लीला थी और यह प्रश्न आप ही की इच्छा से किया भी गया था; इसका हेतु यह है कि सनकादि–मुनीश्वरों को परमात्मतत्त्व का अधिकारी जानकर भगवान् ने अपनी इच्छा से ही उनके मुख से वैसा प्रश्न कराया था और उन्होंने भी भगवान् की इच्छाशक्ति से ही प्रेरित होकर वैसा प्रश्न किया था; क्योंकि स्वकीयतत्त्व (परमात्मतत्त्व) को जगत् में फैलाकर संसारी जीवों के उद्धार करने के लिए आप ही ने निज अंश से चतुःसनकादिरूप से अवतार धारण किया था । (१) अतः भगवदिच्छा से प्रेरित सनकादिकों के उक्त प्रश्न को सुनकर भगवान् मन ही मन यह बिचारने लगे कि, 'सनकादिकों का अभिप्राय तो कुछ और है, किन्तु यह प्रश्न और ही ढंग से किया गया है और ऐसा हमारी इच्छा से ही हुआ है; अतएव पहिले इनके प्रश्न का खण्डन करके इन्हें अपना शिष्य बनालें, तब परमात्मतत्त्व का उपदेश करें; क्योंकि बिना गुरु के परमात्मतत्त्व का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और समस्त संसार के आद्याचार्य तो हम्हीं हैं । (२)।

सो उस प्रश्न का जो कुछ उत्तर भगवान् श्रुति–सिद्धान्त–सम्मत देंगे, उसका पहिले दिग्दर्शन कराकर तदनन्तर भगवान् के उत्तर का उल्लेख हम करेंगे ।

---

(१) इस विषय को हम 'श्रीसनकादिचरित' में विशदरूप से लिखेंगे ।

(२) वस्तुतस्तु मुख्य अभिप्राय यह है कि सनकादिकों का उपलक्षण करके समस्त संसारी जीवों को यह शिक्षा आपने दी कि सद्गुरु के द्वारा ही उपदेश ग्रहण करना चाहिए,–और सनकादिक तो भगवदवतार ही हैं, अतः नित्यमुक्त हैं ।

अतः श्रवण कीजिए,—परमात्मतत्त्व का सार-संकलन श्रुति-स्मृत्यादि-द्वारा इस प्रकार किया जाता है कि,—"यह समस्त जगत् भगवदात्मक है; वह (ब्रह्म) सत्य है; वह सब का आत्मा है; 'तत्'-पद-वाच्य (उस) ब्रह्म का 'त्वं'-पद-वाच्य जीवात्मा के साथ भेद का सहनशील अभेदरूप सम्बन्ध है, अतः यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, ब्रह्म ही में लय होता है और ब्रह्म ही में स्थित रहता है। मुमुक्षु पुरुष शान्त होकर इस प्रकार ब्रह्म का चिन्तन और उपासन करे। जो समस्त जगत् के भीतर प्रविष्ट होकर सब जनों का शासन करता है, हे श्वेतकेतो! उसी सर्वात्मा को तुम ब्रह्म जानो।" (१)

"हे देव! ये जो समस्त देवगण आपके समीप आए हैं, वे सब आप ही हैं; क्योंकि जगत् की सृष्टि के कर्त्ता आप 'सर्वगत,' अर्थात् सबमें व्याप्त हैं।" (२)

"हे भगवन्! आप सबमें सम्यक् प्रकार से व्याप्त हैं, अतः आप 'सर्वरूप' हैं।" (३)

"अनन्तरूप वासुदेव भगवान् सबमें व्याप्त हैं; अतः सर्वरूप से वे ही स्थित हैं।" (४)

"हे अर्जुन! ईश्वर अर्थात् समस्त चेतनों और अचेतनों के नियमन करनेवाले भगवान् श्रीवासुदेव सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय

---

(१) ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, तत्सत्यम्, स आत्मा तत्त्वमसि, श्वेतकेतो! सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत्। अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां, सर्वात्मा।

(इत्याद्याः श्रुतयः)

(२) योऽयं तवागतो देव! समीपे देवतागणः।
स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्॥

(३) सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।

(४) सर्वगत्वादनन्तस्य स एवाहमवस्थितः।

में स्थित रहते हैं और सम्पूर्ण प्राणियों को निज शक्ति (स्वीया माया) से (उन-उन जीवों के) अनादिबीज-भूत कार्यों के अनुसार शुभाशुभ कर्मों में नियुक्त करते हुए प्रकृति के विकार-स्वरूप देह और इन्द्रियों में आरोपित कर उस प्रकार नचाया करते हैं, जैसे धागे से बंधी हुई 'कठपुतली' को अपनी इच्छा के अनुसार नट नचाया करता है।" (१)

इत्यादि श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित समस्त चेतन और अचेतन वस्तु के आत्मा, तथा सम्पूर्ण चेतन और अचेतन वस्तु के उत्पत्ति, लय और जीवन के हेतु, एवं सबके नियन्ता और सर्वव्यापक होने से सर्वसामानाधिकरण्य के योग्य भगवान् ही हैं, ऐसा (भगवान्) सोचकर सनकादिकों के प्रश्न के उत्तर देने के लिये उन (सनकादिकों) के उक्त प्रश्न का खण्डन करते हुए, उन्हें परमात्मतत्त्व-ज्ञान के उपदेश देने एवं उनको निज शिष्यरूप से समस्त विश्व में प्रसिद्ध करने के लिए उनके प्रश्न को चेतनाचेतन,—इन दोनों वस्तुओं के पक्ष में लगाकर उस प्रश्न की असम्भवता (दो श्लोकों से) दिखाते हैं,—

"हे ब्राह्मणो ! तुम्हारा आत्मसम्बधी ऐसा, अर्थात् बहुतों के मध्य में एक को निर्धारित करने वाला—"को भवान्,—अर्थात् आप कौन हैं ?"—यह प्रश्न कैसे सम्भव होसकता है? अर्थात् असम्भव होने से यह प्रश्न अयुक्त है। तुम्हारा प्रश्न चेतन-(आत्मा) विषयक है ? किं वा प्रकृति के कार्यभूत (विकार) देव, पशु, मनुष्यादिदेह के विषय में है ? यदि यह प्रश्न चेतन-विषयक हो, तो चेतनवस्तु सदा एकरस, ज्ञानस्वरूप, अविकारी एवं जातिमान् होने से एक है, अतः तुम्हारा—"को भवान्"—यह प्रश्न कैसे संगत होसकता है ? अर्थात् तुमने यदि 'वस्तु' एक ही

---

(१) ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।
(इत्याद्याः स्मृतयः)

मानी है, तब तो एक आतमा जाननेवाले का यह प्रश्न (को भवान्) कैसे ठीक होसकता है और उक्त प्रश्न के उत्तर देनेवाले हम भी किस आश्रय से उत्तर देसकते हैं, क्यों कि केतकी-पुष्प के रेणु के समान विशेषाभाव होने से किस विशेष का आश्रय करके हम तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दें ? (१)

"यदि तुम्हारा प्रश्न प्राकृतिक देहविषयक हो, तब तो यह प्रश्न केवल वाग्जालमात्र है, उपपत्तियुक्त नहीं; क्यों कि भौतिक (पञ्च-महाभूतात्मक-) देव, मनुष्य, पशु, आदि के सभी देह समान ही हैं, अतः उनमें कोई विशेषता नहीं है,—और विना विशेष के प्रश्नोत्तर होता नहीं, अतः यदि तुम्हारा यह प्रश्न भौतिक-देहात्म-विषयक हो, तो भी अनर्थक है। (२)

"यदि यह कहो कि अनन्तपुण्यों से प्राप्त, अतएव क्षुधा-पिपासा-जरादि-विकारों से रहित, ब्रह्मेन्द्रादि-देह में और क्षुधा-पिपासा-जरादि विकारों से युक्त मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि के देहों में कैसे समानता होसकती है ? तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव में तो मनुष्यादिदेहों के समान ब्रह्मेन्द्रादि-देह भी प्राकृत हैं क्योंकि वे भी प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं; अतः मनुष्यादि-देहों से ब्रह्मादि-देवताओं के देह में कोई विशेषता नहीं है।

इस पर जो यह कहो कि, 'यदि केवल चेतन में, या भौतिक देह-विषय में,-" को भवान् ? " यह प्रश्न अनुचित है, तो देह-विशिष्ट चेतन का और स्वरूप, तथा गुण-शक्तियों द्वारा सब से

---

(१) वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा ! वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २२)

(२) पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २३)

विलक्षण होने से परमात्मा का तो परस्पर भेद है? अतः हमारा प्रश्न (को भवान्) उचित है; किन्तु नहीं,—वैसी अवस्था में भी तुम्हारा उक्त प्रश्न उचित नहीं होसकता; क्योंकि चेतन और परमात्मा का भेद होनेपर भी अभेद-सम्बन्ध है; अतएव केवल भेदभावना-युक्त तुम्हारा उक्त [को भगवान्] प्रश्न सर्वथा अयुक्त है।

इस प्रकार भगवान् के सयौक्तिक, सारगर्भित और सत्यपूत तर्क को सुन, भगवत्प्रभा-प्रभाव से धर्षित हो निज प्रश्न को तर्कोपहत जान, सनकादिक मुनीश्वर भगवान् से परास्त होकर चुप हो गए। तब भगवान् ने एकान्त-आत्मज्ञान के सम्प्रदाय को प्रवर्त्तन करने के लिये और सनकादिकों को आत्मज्ञान के जिज्ञासु जानकर परमात्मतत्त्व के उपदेश करने का बिचार किया।

यहांपर यह समझ लेना चाहिए कि हंसभगवान् में हरि-गुरु-बुद्धि होने से गुरु के आगे शिष्य का पराजय होना कुछ अनुचित नहीं है।। ऐसा जानकर सनकादि मुनीश्वर जब चुप होगए, तब परमकारुणिक भक्तवत्सल भगवान् श्रीवासुदेव सनकादिकों को तत्त्वज्ञान के परमाधिकारी निज शिष्य जानकर मंदस्मित-पूर्वक स्वस्वरूप का ज्ञापन कराते हुए यों कहने लगे,—

"मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो ग्रहण किया जाता है, वह हम ही हैं; हमसे पृथक् कुछ नहीं है, यह तुम भलीभांति जानो[१]क्यों कि मन, वाणी, दृष्टि, श्रोत्रइत्यादि इन्द्रियों के द्वारा वैदिक और लौकिक, सूक्ष्म तथा स्थूल, नित्य एवं अनित्य, ऐहिक और आमुष्मिक, इत्यादि जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब हम्हीं हैं; क्यों कि समस्त चेतनाचेतन पदार्थमात्र

---

[१] मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥
[भा० ए० अ० १३ श्लो० २४]

मदात्मक, मद्व्याप्य, और मदधीन होने से सब हम्हीं हैं; अतएव हमसे अन्यत्, अर्थात् पृथक् स्थिति और प्रवृत्ति के योग्य कोई भी वस्तु नहीं है। इस प्रकार निरन्तर अनुसंधान करने से तुमको अनायास ही हमारा ज्ञान होगा, तथा सर्वत्र मद्विषयक दृष्टि होने से गुण और चित्त का परस्पर विश्लेष भी अनायास ही हो जायगा।

यहांपर मूल के "बुध्यध्वम्" इस पद से सनकादिकों के व्याज से श्रीहंसभगवान् ने समस्त जिज्ञासुओं को यही उपदेश किया है, क्यों कि वास्तव में तो सनकादिक भगवदवतार ही हैं, अतः उन्हें सर्वदा ही स्वतत्त्वानुसंधान बना रहता है, तथा उनमें गुण और चित्त की ग्रन्थि भी नहीं है। इसीसे प्रश्न में भी " कथमन्योन्य-सन्त्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः " यहाँ पर " मुमुक्षु " पद का ग्रहण किया गया है, न कि "अस्मत्" पद का; क्यों कि बद्धजीव का ही 'मुमुक्षु' होना सम्भव है, और सनकादि तो सर्वदैव मुक्त हैं, अतः उनका बद्ध होना भी असंभव है। सो, तत्त्वज्ञान के सम्प्रदाय के प्रवर्त्तनार्थ भगवान् ने ही सनकादिरूप से अवतार धारण किया है, जैसा कि श्रीमद्भागवत में ब्रह्मा का वचन है कि, " विविध लोकों की रचना करने के लिए हमने सृष्टि के आदि में तप किया और वह तप भगवान् को अर्पण करने से उस तप के प्रभाव से आदि में स्वयं भगवान् ही चतुःसनकादिरूप से अवतीर्ण हुए। उन्होंने प्राक्कल्प के प्रलयकाल में विनष्ट हुए आत्मतत्त्व-ज्ञान को पुनः भली भाँति से प्रकाशित किया, जिसे मुनियों ने भी अपने आत्मा में देखा (१) अर्थात् जिसका सम्यक् आचरण कर देवर्षि

---

(१) तप्तं तपो विविधलोकसिसृक्षया मे,
आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।
प्राक्कल्पसंप्लवविनष्टमिहात्मतत्त्वं,
सम्यग्जगाद मुनयो यदचक्षतात्मन्॥
(भा० द्वि० स्क० अ० ७ श्लो० ५)

आदि मुनियों ने उस आत्मतत्त्व को साक्षात् मन में देखा ।

तथा च विष्णुपुराण में भी सनकादिकों का नित्यमुक्त होना सुप्रसिद्ध है । (१)

इस प्रकार निज स्वरूप का वर्णन करके श्रीहंसभगवान् सनकादिकों के उस दुरूह प्रश्न का उत्तर देने लगे जो (प्रश्न) कि उन्हों (सनकादिकों) ने ब्रह्मा से किया था । श्रीभगवान् ने कहा, 'हे पुत्रो ! गुणों (विषयों) में चित्त प्रविष्ट होता है और वे (गुण) चित्त में प्रविष्ट होते हैं, यह बात सत्य है; क्योंकि गुण और चित्त—ये दोनों मदात्मक अर्थात् हमारे अंश 'जीव' के देह में विद्यमान हैं; इसका तात्पर्य्य यह है कि गुण-वासना-मय चित्त ही जीव के विविध देह-धारण करने में हेतु है, अतएव गुण और चित्त—ये दोनों जीव के देहरूप हैं । (२)

यहां पर यदि तुम यह कहो कि, 'तो फिर गुणों का चित्त से त्याग कैसे हो सकता है ?' इस पर हम यह कहते हैं कि, 'चित्त बारंबार गुणों का सेवन करने से पुनः पुनः उनके संस्कार से उन (गुणों) में प्रविष्ट होता रहता है, और वे गुण भी बारंबार चित्त से उत्पन्न होकर उस (चित्त) की वासना से युक्त हो उस (चित्त) में प्रविष्ट होते रहते हैं; सो यद्यपि ये दोनों (चित्त और गुण) परस्पर ग्रथित हो रहे हैं, तथापि यह जीव हमारा अंश है, इसलिए मेरे रूप में मन लगाकर और यह जानकर कि, 'हम सच्चित्-स्वरूप हैं, हम भगवदात्मक हैं और हम सदा निर्विकार हैं, इसलिए गुण

सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास्तु वेधसा ।
न ते लोकेषु सज्जन्ते निरपेक्षाः प्रजासु ते ।
सर्वे ते चागतज्ञाना वीतरागा विमत्सराः ॥

(२) गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः !
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥

(भा० ए० अ० १३ श्लो० २५)

और चित्त हमारे स्वरूप के बन्धन करने में समर्थ नहीं होसकते, क्यों कि, हम तो नित्य हैं और ये (गुण और चित्त) दोनों अनित्य हैं' (१) यों जानकर जीव गुण और चित्त का सम्बन्ध त्याग करै। (२)

यदि यह कहो कि, 'जाग्रत् आदि अवस्थाओं से जीव की निर्विकारता कैसे होसकती है और वह (जीव) गुणादिकों से विलक्षण कैसे है ?' इस पर तुम्हें यों समझना चाहिए कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति,—ये तीनों वृत्तियां जीव के सत्त्व, रज और तम,—इन तीनों गुणों से होती हैं। ये तीनों अवस्थाएं बुद्धि की वृत्तियां हैं, इसलिये ये जीव के स्वरूप में आप ही होती रहती हैं और जीव इन वृत्तियों का साक्षी और द्रष्टा है, यह निश्चित है; इसलिए (साक्षी और द्रष्टा होने के कारण) जीव इन वृत्तियों से निश्चय ही भिन्न है। लोक में जैसे लोग यों कहा करते हैं कि, 'हमने स्वप्न देखा,' 'हम सुखपूर्वक सोए' 'हमने कुछ भी नहीं जाना,' इत्यादि। इस प्रत्यभिज्ञान के कारण उन अवस्थाओं से जीव विलक्षण है। (३)

यदि यह कहो कि, 'जीव इन अवस्थाओं से विलक्षण है, तो फिर, 'हम सोए' 'हम जागते हैं,' इत्यादि अवस्थाओं की प्रतीति क्यों होती है और उन अवस्थाओं वा उस प्रतीति से

---

(१) धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्यात्वनित्यः, इति भारते व्यासवचनम्।

(२) गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २६)

(३) जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २७)

छुटकारा कब मिल सकता है ? ' तो इस पर तुम यों समझो कि, संसरणधर्म से अनात्मा (देहादि) में अपने को बन्धन करनेवाला जो अहङ्कार है, वही जीव को गुण-कार्य-वृत्ति अर्थात् स्वप्नादि अवस्थाओं को देता है, अतएव उन अवस्थाओं से छुटकारा पाने के लिए यह जीव तुर्य अर्थात् तीनों अवस्थाओं से अतीत और हममें वर्त्तमान, शुद्ध स्वरूप में तुष्ट होवे, तब वह तुरीयस्वरूपानुसन्धानवान् शुद्धस्वरूप जीव संसृति का बन्धन-भूत अहङ्कार को त्यागता है, तभी गुण और चित्त का त्याग, अर्थात् परस्पर विश्लेष होजाता है। जब लों यह बुद्धि गुणों की वृत्तियों से युक्त है, तभी लों संसार-बन्धन है, और जब हममें वर्त्तमान जीव स्वस्वरूप में मन को युक्त करै, तब उन वृत्तियों के छूटने से चित्त तथा गुण—इन दोनों का वियोग होजाता है। (१)

श्रीहंस भगवान् उसी बात को और भी स्पष्ट करके कहते हैं कि; 'अनात्मभूत देहादिकों में आत्मभावनारूप अहङ्कार का किया हुआ यह बन्धन है, जिस (बन्धन) से कि आत्मा के अर्थ (मोक्ष) का विपरीत भाव (बारंबार संसरण) होरहा है, अर्थात् सुख के भाव का अनुसरण करने से निरन्तर दुःख का भाव उत्पन्न होरहा है; इसलिए विद्वान् पुरुष (जीव) उस सुख को दुःख-रूप जानकर अर्थात् ' अहं-ममास्पद ' भावों से विरक्त हो और उन्हें दुःख का हेतु जानकर और तुर्यरूप में स्थित होकर संसार की चिन्ता को त्यागै। (२)

---

(१) यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
तुर्ये मयि स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम्॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २८)

(२) अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० २९)

ऐसा विचार करके मुमुक्षुजन जब तक विषयों को न त्याग करैंगे, तब तक उनकी संसार से निवृत्ति नहीं होसकती,—इस बात को श्रीहंसभगवान् कहते हैं कि, 'पुमान् (पुरुष) उसे कहते हैं, जो अपने को पवित्र करै, अर्थात् संसार से तार दे, यही पुमान् पुरुषार्थ के योग्य है,—यह बात श्रुति में भी कही है। (१) सो, उस पुरुष की जब तक नानाप्रकार की बुद्धि,—जो नाना प्रकार के (शब्दादि) विषयों में 'पुरुपार्थधी' होरही है, उन युक्तियों से, जो विषयों को अनर्थकारी प्रतिपादित करती हैं,—निवृत्त नहीं होती, अर्थात् उन (शब्दादि) विषयों में दोष नहीं देखती, तब तक वह (अज्ञ) पुरुष (जीव) शब्दादि-विषयों में जागता हुआ भी सोते हुए के समान अज्ञ है। इस स्वप्न में यह दृष्टान्त है कि जैसे कोई पुरुष स्वप्न में जागता हुआ कोई काम करता है, परन्तु फिर वास्तव में जागने पर उसका वह व्यापार मिथ्या होजाता है, क्यों कि स्वप्नावस्था में जागरण मिथ्या है; इसी प्रकार नाना विषयों से जिसकी अर्थबुद्धि न निवृत्त हो, उसका समस्त कर्मकलाप अर्थात् ज्ञानादि-कौशल व्यर्थ ही है। (१)

श्रीहंसभगवान् कहते हैं कि यदि तुम यहांपर यह शंका करो कि, 'रूपरसादिमान् बहुविध पदार्थ प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध हैं और ये बहुधन तथा प्रयत्नादि से साध्य भी हैं, तो फिर इनमें लगी हुई बुद्धि इनसे कैसे निवृत्त होसकती है?' इस पर तुम यों समझो कि हम अभी यह कह आए हैं कि उन विषयवासनाओं में ग्रस्त बुद्धि को "युक्तिभिः" अर्थात् 'युक्तियों' के द्वारा विषय-

---

(१) पुरुषत्वे चाविस्तरामात्मा स हि विज्ञानेन सम्पन्नतमो विज्ञानं वदति।

(२) यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्त्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० ३०)

वासनाओं से विद्वान् चित्त को पृथक् करै। सो, देखो—'आत्मा (जीव) से अन्य जो रूपरसादि-कार्यद्रव्य हैं, वे असत् अर्थात् परिणामी हैं और उन उन तादृश गुणविशिष्ट पदार्थों के किए हुए जो भेद हैं, वे भी असत्-अर्थात् परिणामी हैं। जैसे कि यह स्त्री सुन्दरी है, और यह स्त्री कुरूपा है; एवं यह अन्न सुरसगन्ध तथा स्पर्शयुक्त होने से प्रिय है और यह अन्न सुरसगन्धादि-रहित होने से अप्रिय है; इसी प्रकार वस्त्र, गृह, आदिकों में भी उक्त दृष्टान्त को लगा लो और उन पदार्थों की गति, जिनके द्वारा वे रूपरसादि पदार्थ प्राप्त होते हैं, अर्थात् उन पदार्थों की साधनभूता क्रिया; तथा उन पदार्थों के अवस्था, धन आदि हेतु (कारण)—ये सब यद्यपि प्रवृत्तिनिष्ठ अज्ञ पुरुष को सत्य अर्थात् नित्यसुखरूप प्रतीत होते हैं, तथापि मुमुक्षु विद्वान् पुरुष के लिये ये परमार्थोपयोगी (मोक्ष-साधनोपयोगी) नहीं हैं; क्यों कि ये स्वयं नश्वर हैं, अतएव मुमुक्षु के लिये अकिञ्चित्कर होने के कारण इन्हें मिथ्या ही जानो; इस बात को इस दृष्टान्त से और भी स्पष्टतया समझ लो कि जैसे सोता हुआ पुरुष स्वप्न में जिन जिन पदार्थों को देखता है, वे वे स्वप्नावस्था के पदार्थ सत्य भी हैं, परन्तु जब वह पुरुष जागता है, तब वे स्वप्नदृष्ट पदार्थ अनुपयोगी होने के कारण मृषा अर्थात् उस पुरुष का कोई अर्थ नहीं सिद्ध कर सकते, इसलिए वे अकिञ्चित्कर हैं। (१)

श्रीहंसभगवान् ने ऊपर जो आत्मा को तीनों अवस्थाओं से विलक्षण और उन अवस्थाओं का साक्षी कहा है, यहाँ पर वे उसी बात को स्पष्टतया दिखाते हैं,—'जो आत्मा (जीव) जाग्रत् अवस्था में जिन बाह्य विषयों अर्थात् रूपरसगन्धादिमान् द्रव्यों को चक्षुरादि

---

(१) असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥
(भा० ए० अ० १३ श्लो० ३१)

इन्द्रियों के द्वारा भोगता है, वे क्षण-क्षण में परिणामी होने के कारण धर्मान्तरयुक्त हैं; और जो (जीव) जाग्रत् अवस्था में अनुभूत किए हुए पदार्थों के संस्कार, जो उसके हृदय (मन) में स्थित रहते हैं, उन (संस्कारों) के द्वारा उन पदार्थों को हृदयमात्र से स्वप्नावस्था में भोगता है, और जो जीव सुषुप्ति अवस्था में उन सभोंको समेट लेता है, वह (जीव) एक ही है; क्यों कि वह जीव चक्षुरादि बाह्य इन्द्रिय तथा मन और बुद्धि का प्रेरक है। यद्यपि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं के विश्व, तैजस और प्राज्ञ, ये तीन अधिष्ठाता प्रसिद्ध हैं और अवस्थाभेद से ये तीनों भिन्न भी हैं, अर्थात् इनमें एकरूपता नहीं है, तथापि आत्मा (जीव), इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी होने के कारण एक ही है। आत्मा के एक होने में प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण, जिसका कि सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है, देखो,—जैसे मनुष्य प्रायः यों कहा करते हैं कि,- "हमने स्वप्न देखे" फिर "हम सुख से सोए" इसलिए "हमने कुछ भी नहीं जाना" वही "हम अब जाग रहे हैं," इस प्रकार के त्रिविध अवस्था के अनुभव होने के कारण आत्मा का उन तीनों अवस्थाओं में एक होना तथा उन अवस्थाओं के साक्षी होने के कारण उनसे विलक्षण होना सिद्ध होता है। (१)

अवस्था-वैलक्षण्य में उस (अवस्था) के साक्षित्व-निरूपण का प्रयोजन कहते हैं,—श्रीहंसभगवान् कहने लगे कि, 'जो प्रकार हम अभी कह आए हैं, उस प्रकार से भलीभांति विचार करने पर यह बात स्पष्ट होजायगी कि सत्त्वादि गुणों के हेतु मन की ये

(१) यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्,
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः,
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३२)

तीनों अवस्थाएं होती हैं, यही व्यवस्था है। अर्थात् इसे यों समझो कि यद्यपि जाग्रत् अवस्था बाह्य इन्द्रियों से, स्वप्न मन से और सर्व (बाह्य न्द्रिय और मन के) लय से सुषुप्ति अवस्था होती है, यह प्रक्रिया सर्वसम्मता है, तथापि जाग्रत् अवस्था में भी सब व्यवहारों का निमित्तभूत मन ही है, क्यों कि मन से प्रेरित हुए बिना किसी इन्द्रिय का भी कोई कार्य भलीभांति निष्पन्न नहीं होसकता; और सुषुप्ति भी केवल इन्द्रियमात्र के लय होने से ही नहीं होती, किन्तु मन से ही होती है, इसीलिए सर्वत्र (तीनों अवस्थाओं में) मन ही प्रधान निमित्त है, अतएव "मनसः" ऐसा कहा गया है। सुतराम् वे तीनों अवस्थाएं मेरे अंश जीव में मेरी अनादि-कर्मरूपा (अविद्या) माया से की गई हैं, ऐसा अर्थ जिन्होंने निश्चित किया है, अर्थात् सर्वमुमुक्षुओं के उपदेश के लिये आत्मा के अवस्थादिरूप अर्थ (सिद्धान्त) जिन्होंने निश्चित किए हैं, वे अनुमान और सदुक्तियों से तीक्ष्णीकृत ज्ञान-रूप-असि से सम्पूर्ण जीवों की अखिल-संशय-रूपिणी आधि (मानसी व्यथा) को काटकर हृदयस्थित हमको भजें। यहां पर श्रुति के अनुकूल तर्क को ही अनुमान जानों, न कि शुष्कतर्क को; और सदुक्तियों से तात्पर्य सत् अर्थात् बेदरूप हमारे वचन और सत्सम्प्रदायनिष्ठ हमारे अनुयायियों के वचनों से है। अतएव अनुमान और श्रुति-स्मृति आदिकों से तीक्ष्णीकृत ज्ञानरूप असि से अखिल संशयों वा अखिलजीवों के संशयों को दूर करके हृदयस्थ हमारा भजन करो। अनुमान और सदुक्तियों से संशय के कट जाने पर हमारे भजन और तदनन्तर हमारे साक्षात्कार से सर्वकर्मात्मिका माया की स्वतः निवृत्ति होजाती है। इस का भाव यह है कि अनादि-अविद्या से निरूपित त्रिगुणात्मक मन की, जो कि संसार का हेतु है, पूर्वोक्त प्रकार से जब सात्त्विकता संपादित की जाती है, तब सत्सङ्ग में सात्त्विक प्रश्न और सेवा आदि से, तथा शास्त्रजन्य परोक्षज्ञान से संशयों के दूर होजाने पर

भी कर्मात्मिका अविद्या से युक्त गुण का सम्बन्धी मन सात्त्विक गुण से पुनः भ्रष्ट न हो, इसलिए हमारा भजन करो; क्यों कि मन का हममें धाराप्रवाहरूप से लगने पर समस्त अनर्थों की निवृत्ति के साथ ही साथ सम्पूर्ण कर्म आदि के बन्धनों की भी निवृत्ति स्वतः होजाती है, और फिर अन्त में विश्व-माया की निवृत्ति भी होजाती है; अतएव संसार की निवृत्ति के लिये हमारा भजन ही एकमात्र श्रेष्ठ साधन है। ' (१)

श्रीहंसभगवान् पूर्वश्लोक में सनकादिकों से यह बात कह आए हैं कि, 'ज्ञानरूपिणी असि से संशयों को काट डालै;' सो यहां पर यह दिखलाते हैं कि ज्ञान क्या है। श्रीहंसभगवान् कहने लगे कि,- 'यह जगत् मन का विलास है, अतः यह (मन) वासनानुसार जीव को नाना प्रकार की योनियों में भ्रमाने का स्थान है; अर्थात् हमारे भजन के बिना संसारी विषयों में आसक्त मनुष्यों के मन में ये वासनाएं सर्वदा उठती रहती हैं कि, ' हम स्वर्ग को जायं, हम ब्रह्मलोक को जायं, हम नागलोक को जायं,' इत्यादि; बस यही जगत् मन का विलास अर्थात् मन के सङ्कल्प का विषय है; और जीव स्वसङ्कल्पानुसार इस जगत् में भ्रमण किया करता है, अर्थात् इस चतुर्दशभुवनात्मक विश्व में जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों से ऊर्ध्व और अधो लोकों में भ्रमण किया करता है; अतः यह जीव का विभ्रम है, मुमुक्षुजन जगत् को ऐसा देखैं; और यह जगत् अलातचक्र (बनेठी की आग) के समान अतिचञ्चल है, अर्थात् यह अलातचक्र की भांति संवत्सरात्मक चक्र से बेर बेर आता और

(१) एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था,
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण—
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३३)

जाता हुआ नहीं जाना जाता है, अतएव दृश्यमान भी अदृष्ट होता रहता है; एतावता इस परिणाम शील जगत् में विज्ञान नामक प्रत्यगात्मा को मुमुक्षु ज्ञानस्वरूप होने के कारण एक-समान देखै। यहां पर तुम यदि यह कहो कि, 'यह देव है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह वृक्ष है, इस प्रकार जीवात्मा अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, फिर उसे एक-समान किस प्रकार जानैं?' तो उसे ऐसे एक-समान जानो कि इस जगत् में जो विविधाकारता दिखलाई देती है, वह हमारी अपरा शक्ति अर्थात् माया (प्रकृति) है। (१) अब यदि यहां पर तुम यह आशङ्का करो कि,—'श्रुतिवाक्यानुसार अजा (माया) भी एक ही है, (२) फिर उसका बहुत्वरूप से भान कैसे होता है?' तो इसका उत्तर यह है कि देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि रूप जो तीन प्रकार के भेद [विकल्प] हैं, वे सत्त्व, रज, तम आदि इन तीन गुणों के किए हुए हैं; अर्थात् सत्त्व, रज, तम आदि इन तीन गुणों की विविध प्रकार की सृष्टि से ही ये त्रिविध विभेद दिखलाई पड़ते हैं। इन गुणत्रयों की सृष्टि में सतोगुण से देवादिक, रजोगुण से मनुष्यादिक और तमोगुण से तिर्यक् आदि होते हैं। ये सभी मायाशब्द-वाच्य प्रकृति के कार्य हैं, अतएव सब माया ही है। कारण से कार्य अभिन्न है. इस सूत्र (३) के अनुसार यह भेद भी नित्य नहीं है; जैसे स्वप्न अनित्य है, वैसे ही देवादि देह और उन देवादिकों के लोकों के भोग भी अनित्य हैं।' (४)

(१) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (इतिश्रुतिः)
(२) अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्। (इतिश्रुतिः)
(३) तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः। [वेदान्त-सूत्रम्]
(४) ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं,
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया,
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३४)

अब यहांपर ज्ञान के निरूपण में जगत् के स्वरूप के निरूपण करने का प्रयोजन कहते हैं। श्रीहंसभगवान् चतुःसनकादिकों से यों कहने लगे कि,–' हे पुत्रो! यह तो तुमने जान ही लिया कि यह चराचर जगत् (प्रपञ्च) स्वप्न के समान अनित्य है, इसलिये इस प्रपञ्च से मन की वृत्तियों को खींचकर और उस (सांसारिक सुखों) की तृष्णा से निवृत्त होकर मुमुक्षु को निरीह अर्थात् निर्व्यापार होना चाहिए; क्यों कि देहादि के सुख-भोग से निवृत्त होने में और भी हेतु हैं, जिनको तुम ध्यान देकर सुनो,—जब मुमुक्षु निजस्वरूप में स्थित परमात्मा का अनुभव करने लगता है, तब वह उन परमात्मा के अनुग्रह से जगत् की अनित्यता को स्वयं अच्छे प्रकार से समझने लगता है और तभी इन सांसारिक तुच्छ सुखों से भी अनायास ही निवृत्त होजाता है। ऐसा होने पर भी यद्यपि देहयात्रा के निर्वाहार्थ थोड़ा-बहुत सांसारिक सम्बन्ध लगा ही रहता है, तथापि उस सम्बन्ध के लगे रहने से ऐसा कदापि न समझना चाहिए कि उस सम्बन्ध के लगे रहने के कारण फिर भी संसार में चित्त की आसक्ति होजायगी; क्यों कि यदि ऐसा ही होजाय, अर्थात् उक्त प्रकार की निवृत्ति होने पर भी पुनः यदि संसार में प्रसक्ति होने लगे, तो फिर सम्पूर्ण साधनों के श्रम ही व्यर्थ होजायंगे; और फिर उन महाकष्टसाध्य साधनों के संसाधन करने का प्रयोजन ही क्या रहजायगा! किन्तु ऐसा न समझना चाहिए, क्योंकि यदि कदाचित् कहीं प्रारब्धानुसार यत्किञ्चित् ये तुच्छ सुख के हेतु प्राकृत द्रव्य दिखाई भी दें तो इन्हें तुच्छ वस्तु जानकर मुमुक्षु कदापि ग्रहण न करे और न यही समझे कि, ' ये सांसारिक पदार्थ हमें कभी सुख देनेवाले होसकते हैं; वरन ये सब तो वास्तव में अनर्थकारी हैं; ' ऐसा जानकर त्यागे हुए सांसारिक पदार्थ फिर कभी उस मुमुक्षु को भ्रमकारी नहीं होसकते, परन्तु पूर्वानुभूत संस्कार के कारण उन पदार्थों की स्मृति तो शरीर-पात-पर्य्यन्त

अवश्य ही बनी रहेगी ।'(१)

श्रीहंसभगवान् कहते हैं कि,—'यदि यहां पर तुम यह आशंका करो कि, 'जब ज्ञानी को भी पूर्व काल में अनुभव किये हुए पदार्थों की स्मृति देह-पात अर्थात् शरीर के छूटने तक बनी ही रहती है, तब फिर अज्ञानी पुरुषों से उस ज्ञानी पुरुष की क्या विशेषता हुई?' तो इस पर तुम्हें यों समझना चाहिए कि यद्यपि सामान्य ज्ञानी में चाहे कोई विशेषता न दीख पड़े, तथापि पूर्ण ज्ञानारूढ़ दशा में तो ज्ञानी में विशेषता हुई है, जिसका अनुभव सभों को होता है। इस बात को और भी स्पष्ट रीति से तुम यों समझो कि पूर्ण ज्ञानावस्था को प्राप्त जो सिद्ध पुरुष है, वह इस नश्वर देह को आसन पर स्थित होते हुए भी नहीं देखता और फिर वहांसे उठकर अन्यत्र गमन करने को भी नहीं जानता; यहां तक कि देह-निर्वाह के लिये दैव की इच्छा से भोजनादि की प्राप्ति और उसकी अप्राप्ति को भी वह नहीं देखता, अर्थात् पूर्ण ज्ञानावस्था में स्वशरीर का किञ्चिन्मात्र भी भान उसे नहीं रहता। इस बात को तुम इस दृष्टान्त द्वारा यों समझो कि जैसे मदिरा के मद से अन्ध पुरुष अपने पहिरने के वस्त्र को नहीं जानता कि वह शरीर पर है, अथवा खुलकर कहीं गिरगया; इसी प्रकार जो सिद्ध पुरुष स्व-स्वरूप में स्थित परमात्मा के अनुभवानन्द में मग्न है, उसको अपने देहतक का तो अनुसन्धान ही नहीं रहता है, तो फिर इस जगत् का अनुसन्धान उसे न रहै, इसमें आश्चर्य ही क्या है! इसका फलितार्थ यह है कि सिद्धावस्था में वह मुमुक्षु पुरुष सब संसारी जीवों से

(१) दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।
सन्दृश्यते क्व च यदीदमवस्तु बुद्ध्या,
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३५)

परम विलक्षण होजाता है।' (१)

श्रीहंसभगवान् पुनः कहने लगे कि,—'यदि यहांपर तुम यह शंका करो कि,—'ऐसे ज्ञानी का देह, रक्षा के न करने के कारण शीघ्र ही पतन होजायगा और रह न सकेगा;' इसपर तुम्हें यों समझना चाहिए कि यह देह निश्चय ही प्रारब्ध कर्म के अधीन है; अतः जबतक प्रारब्धकर्म का भोग समाप्त न होगा, तबतक यह देह प्राणविहीन कदापि नहीं होसकेगा। इस पर पुनः यदि तुम यह प्रश्न करो कि,—'तो देहपात के न होने तक इस देह की रक्षा करने में दोष ही क्या है?' इसपर हम यह कहते हैं कि वह सिद्ध पुरुष अपने देह का स्वयं पालन किं वा उसके सुख के निमित्त और और वस्तुओं का संग्रह इसलिये नहीं करता कि वह यह बात उत्तम प्रकार से जानता है कि, 'यह देह हमारे सुख का कारण कदापि नहीं हो सकता; क्यों कि समाधियोग से वह योगी अपने ध्येय परमात्मा के साथ संयोग प्राप्त कर लेता है, इसलिये जब उस सिद्ध पुरुष का समस्त व्यवहारों का हेतुभूत मन उसके ध्येय वस्तु, अर्थात् परमात्मा में लग जाता है, तब वाह्य पदार्थों में उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। इस बात को इस दृष्टान्त से तुम यों समझो कि जैसे सोया हुआ पुरुष जब जागता है, तब वह फिर स्वप्न में देखे हुए पदार्थों पर कभी ध्यान नहीं देता। (२)

---

(१) देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा,
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं.
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥
[भा० ए० अ० १३, श्लो० ३६)

(२) देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्,
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः,
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तु॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३७)

यहां तक श्रीसनकादिकों को ज्ञानोपदेश करके अब श्रीहंसभगवान् अपने में और अपने वचन में उनको विश्वास स्थापन कराने के लिये स्वस्वरूप का ज्ञापन कराते हुए,-कि हमारा उपदिष्ट ज्ञान सब शास्त्रों का सारभूत है और इसका उपदेश करना परमेश्वर के विना कदापि सम्भव नहीं है,—अपनी परमेश्वरता प्रकट करते हैं। श्रीहंसभगवान् ने कहा,—"हे पुत्रो ! तुम विप्र हो, अतएव वेदाभ्यास-परायण हो; और वेदाध्ययनशील पुरुष का ही तत्त्वज्ञान में मुख्य अधिकार है, इसीसे हमने सांख्य और योग—अर्थात् आत्मा और अनात्मा का विवेक, तथा शास्त्रोक्त अष्टाङ्ग योग—इन दोनोंमें जो अतिरहस्य तत्त्व भरे हुए थे, उन्हें तुमलोगों के प्रति उत्तम प्रकार से कहा। इस प्रकार के तत्त्वज्ञान का कहना परमेश्वर के अतिरिक्त कदापि सम्भव नहीं है, अतएव हमको तुम यज्ञपुरुष, अर्थात् साक्षात् देवाधिदेव परब्रह्म विष्णु जानो। हमारा स्वरूप अपने पिता ब्रह्मा के वाहन की भांति देखकर हमें निज पिता के वाहन न समझो, वरन साक्षात् परब्रह्म विष्णु ही जानो। यदि इस पर तुम यह कहो कि, 'जो आप साक्षात् विष्णु हैं, तो फिर हंस का स्वरूप धारण करके क्यों पधारे ?' इस आशंका का उत्तर यह है कि तुम लोगों के समान परमहंसों को ज्ञानोपदेश करने के लिये हंसस्वरूप का धारण करना ही हमने परमोचित समझा; क्योंकि तुम्हारा प्रश्न अपने पिता (ब्रह्मा) से यह हुआ था कि, 'विषयों से चित्त की निवृत्ति किस प्रकार होसकती है?' सो, तुम्हारे इस प्रश्न के उत्तर देने में जब ब्रह्मा असमर्थ हुए,—क्योंकि ये ईश्वर नहीं हैं,—तब हमने तुम्हारे उक्त प्रश्न का उत्तर दिया, जिससे तुम्हारा चित्त विषयों से मुक्त हुआ। ऐसी अवस्था में हंसका रूप धारण करना ही लोक दृष्टान्त की भांति ठीक है; क्योंकि जैसे लोक में हंस की ऐसी शक्ति सुप्रसिद्ध है कि वह जल से मिले हुए दूध में से केवल दूधमात्र ग्रहण करलेता है, उसी

प्रकार यहांपर चित्त का विषयों से पृथक् करने का तुम्हारा प्रश्न था, अतएव हमने तत्त्वातत्त्व-विवेचन-कुशल हंसस्वरूप धारण कर तुम्हें दर्शन दिया। तुमलोग परमहंस हो और परमहंसों का यही धर्म है कि वे आत्मा और अनात्मा का अच्छे प्रकार विचार करके सर्वसंगों से निवृत्त होकर केवल परमतत्त्व (परमात्मा)में एकान्त निष्ठा को धारण करें। ऐसे परमहंसों के जो धर्मोपदेष्टा विष्णु अर्थात् हम हैं, उनके लिए हंसरूप से ही उपदेश करना समुचित है, न कि अन्यरूप से।' (१)

श्रीहंसभगवान् अपने गुणों का, अर्थात् स्वयं विष्णु होने के गुणों का ज्ञापन करते हुए कहते हैं कि, 'हे द्विजवरो! हम योग (सुप्रसिद्ध अष्टाङ्ग-समन्वित योग), सांख्य (तत्त्वातत्त्वविवेक), सत्य (समदर्शन), ऋत (प्रियवचन), तेज (किसीसे पराभूत न होकर सबके पराभव करने का सामर्थ्य), श्री (लक्ष्मी वा शोभा), कीर्त्ति (विश्वविदितसुख्याति), और दम (अन्तःकरण का संयम), इन कल्याण-गुणों के परमाधार हैं (२)

फिर भी श्रीहंसभगवान् अपने को साक्षात् श्रीविष्णु परमात्मा ज्ञापन कराने के लिये यह बात दृढ़ करते हैं कि, 'हम्हीं सर्व-कल्याण-गुणों के एकमात्र आश्रय हैं।' यही बात यहां पर दिखाते हैं कि, 'साम्य, असङ्ग, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, आर्जव, सौहार्द, सौम्य, कारुण्य, इत्यादि अनन्त कल्याण-गुण हमारा ही भजन करते हैं, अर्थात् हम-पुरुषोत्तम में ये सब कल्याणगुण सर्वदा ही रहते हैं। इन गुणों में साम्य गुण का

(१) मयैतदुक्तं वो विप्रा! गुह्यं यत्सांख्ययोगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३८)

(२) अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः! श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ३९)

यह लक्षण है कि ब्रह्मा से लेकर अन्त्यज-पर्यन्त समस्त जीवधारियों को एक-समान शरण देना। चराचर जीवों में अन्तर्यामीरूप से स्थिरता रहने पर भी उनके धर्मों से निर्लेप रहना असङ्ग गुण है। ये सब कल्याणगुणों के रहने पर भी हम मायिक—अतएव हेय—गुणों से रहित हैं, अतः निर्गुण हैं। और किसी वस्तु की भी अपेक्षा न होने के कारण हम निरपेक्षक हैं। इस पर यदि तुम यह आशंका करो कि, 'तो फिर आपने भूमि तथा नवनीत आदि की याचना क्यों की थी?' इसका उत्तर यह है कि हम सब के सुहृत् और प्रिय हैं, अर्थात् भक्तों के सुहृत् और प्रिय होने के कारण हम उनके इच्छानुकूल, नहीं करने योग्य कार्य को भी करते हैं। इस पर यदि तुम यह कहो कि, 'तो फिर भक्तों का पक्षपात आपने किया, तब आपमें समता और असङ्गता कहां रही?' इसका उत्तर तुम यों समझो कि हम सबके आत्मा हैं, अतएव सर्वात्मता होने के कारण कल्पवृक्ष के समान हम उन्हीं भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करते रहते हैं, जो कि हमारा भजन करते हैं, औरों का नहीं। इससे हममें विषमता नहीं है और इसीसे हमारा असङ्ग होना भी सिद्ध हुआ। अब तुम यह समझो कि हमारे वे गुण कैसे हैं कि अगुण हैं, अर्थात् प्राकृत-गुणों से विलक्षण होने के कारण दिव्य हैं। (१)

इस पुरातन कथा को सुनाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा कि, 'इस प्रकार जैसा कि तुम्हें हमने सुनाया है, गुह्य तत्त्वों के उपदेश के द्वारा हंसरूप से हमने जब सनकादिकों के सम्पूर्ण सन्देहों को दूर कर दिया, तब वे मुनिजन सन्देह-रहित होकर पराभक्ति-पूर्वक हमारी पूजा करके समीचीन स्तोत्रों से

---

(१) मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्याऽसङ्गादयोऽगुणाः॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ४०)

स्तुति करते हुए। (१)

तदनन्तर उन परमर्षियों के द्वारा भलीभांति पूजित और स्तूयमान होते हुए हम (हंसस्वरूप) ब्रह्मा के देखते देखते अपने धाम (वैकुण्ठ) को चले गए। (२)

यहांतक श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में वर्णित "श्रीहंसावतार-चरित" (३) की व्याख्या विशदरूप से की गई। इसी (एकादश) स्कन्ध के चतुर्थाध्याय में भी देवर्षि श्रीनारदजी ने श्रीवसुदेवजी को जो ज्ञानोपदेश किया है, उसमें भी अवतारों के वर्णन के प्रकरण में 'श्रीहंसावतार' को भी गिनाया है। वहांपर कहा है कि,—'श्रीविष्णुभगवान् ही हंसरूप धारण करते हुए;' इत्यादि (४)

---

(१) इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्याऽगृणत संस्तवैः॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ४१)

(२) तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥
(भा० ए० अ० १३, श्लो० ४२)

(३) यह चरित श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के त्रयोदशाध्याय के चौदहवें श्लोक से प्रारम्भ होकर बयालीसवें श्लोक (अध्यायसमाप्ति) पर्य्यन्त; उन तीस श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीउद्धवजी के संवाद-रूप में वर्णित हुआ है।

(४) हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं,
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान् पिता नः।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये॥
(भा० ए० अ० ४, श्लो० १७)

उपसंहार ।

शुक्लस्वरूपरुचिरेण परः पराणां
तत्त्वं बभाण परमं सनकादिकेभ्यः ।
भक्तस्य पापहननान्निजज्ञापनाच्च,
हंसं वदन्ति मुनयस्तमहं प्रपद्ये ॥

(श्रीमदनन्तरामदेवाचार्यः)

यह तो श्रीमद्भागवत की बात हुई, इसके अतिरिक्त श्रीविष्णु-पुराणादिकों में भी श्रीहंसावतारचरित का उल्लेख है, जिसे विस्तारभय से हमने यहां नहीं लिखा ।

विशेषतः 'ऊर्ध्वाम्नायतन्त्र' में श्रीशिवजी ने श्रीपार्वतीजी से कहा है कि,–'सनकादिकों के प्रार्थना करने पर उन्हें निज शिष्य करके ज्ञान, विज्ञान, और भक्ति के रहस्य एवं शरणागति का, तथा अष्टादशाक्षर मन्त्र का उपदेश देकर और सनकादिकों तथा ब्रह्मा से पूजित होकर श्रीहंसभगवान् अन्तर्धान हुए । (१)

इस विषय में हमें और जो कुछ विशेष वक्तव्य है, उसे हम श्रीसनकादिचरित में व्यक्त करेंगे ।

अब यहांपर हम एक परमावश्यक विषय पर विचार करते हैं, वह यह है कि इस समय हमारे सन्मुख नवटीका-समन्वित श्रीमद्भागवत उपस्थित है; अर्थात्,—

---

(१) इत्यादीनुपदिश्याथ प्रार्थितः सनकादिभिः ।
ज्ञानं भक्तिरहस्यं च विज्ञानं शरणागतिः ॥
अष्टादशाक्षरं तेभ्य उपदिश्य स्वयं प्रभुः ।
ब्रह्मणा सत्कृतः प्रीत्या तत्रैवान्तरधीयत ॥

(श्रीमदाचार्यचरित से उद्धृत)

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायानुगामि श्रीमच्छुकदेवाचार्यकृतसिद्धान्तप्रदीप १, श्रीश्रीधरस्वामिकृता भावार्थदीपिका २, श्रीराधारमणदासगोस्वामिविरचिता दीपिकादीपिनी ३, श्रीमद्विशिष्टाद्वैतमतानुयायि श्रीसुदर्शनसूरिकृता शुकपक्षीयसमाख्या व्याख्या ४, तदनुगामि श्रीवीरराघवाचार्यकृता भागवतचन्द्रिका ५, श्रीमन्मध्वमतानुयायि, श्रीविजयध्वजतीर्थकृता पदरत्नावली ६, श्रीमद्विष्णुस्वामि मतानुयायि श्री मद्वल्लभाचार्यकृता सुबोधिनी ७, भक्तप्रवर श्रीचैतन्य मतानुयायि श्रीजोवगोस्वामिकृता क्रमसन्दर्भाख्या व्याख्या ८, तथा तदनुयायि श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिकृता सारार्थदर्शिनी ९॥

इन नवों टीकाओं के प्रणेता महानुभावों ने श्रीहंसभगवान् को साक्षात् श्रीविष्णुभगवान् का अवतार माना है और हंसरूप से प्रगट होने के कारण को भी विशदरूप से स्पष्ट करके दिखलाया है। अतएव यह बात निर्विवाद-सिद्ध है कि सर्वप्रथम श्रीविष्णुभगवान् ने श्रीसनकादिकों को भागवतधर्म का उपदेश किया, और सनकादिकों ने श्रीनारदजी को, तथा श्रीनारदजी ने श्रीनिम्बार्क भगवान् को उसी परमतत्त्व, अर्थात् भागवतधर्म का उपदेश किया। फिर श्रीनिम्बार्कभगवान् ने जगत् में भागवतधर्म का विशेष रूप से प्रचार किया; अतएव यह सम्प्रदाय उसी 'श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, किन्तु वास्तव में सर्वप्रथम श्रीहंस भगवान् ने जो श्रीसनकादिकों को उपदेश किया, इससे यह सनकादि सम्प्रदाय है और यदि कोई सम्प्रदाय अनादि किं वा समस्त सम्प्रदायों का आदि संप्रदाय है तो वह यही सर्वपुरातन श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय है।

श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त नवटीकाकारों में से 'क्रमसन्दर्भकार' श्रीजीव गोस्वामि महोदय ने अठारहवें श्लोक की व्याख्या करते समय "हंसोपनिषत्" नाम के एक 'उपनिषत्' का उल्लेख किया है, परन्तु हमने अभी तक उक्त उपनिषत् का दर्शन नहीं किया है। यदि किसी महात्मा की कृपा से वह उपनिषत् हमें प्राप्त होगा, तो हम उसे "वैष्णव-सर्वस्व" द्वारा प्रकाशित करदेंगे।

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के ४१ वें श्लोक में जो कहा है कि, 'श्रीसनकादिकों ने' श्रीहंसभगवान् की स्तुति की; सो, किसी किसी महात्मा से यह भी विदित हुआ है कि,—'श्रीसनकादिकृत श्रीहंसस्तवराज' नामक एक अपूर्व स्तोत्रग्रन्थ है, किन्तु हमें वह स्तोत्रग्रन्थ अभी प्राप्त नहीं हुआ है। यदि किसी महानुभाव की अनुकम्पा से हमें वह दुर्लभस्तोत्ररत्न उपलब्ध हुआ, तो वह भी 'वैष्णव-सर्वस्व के परमादरणीय पाठकों के दृष्टिगोचर होगा।

निदान, यहां तक तो पौराणिक-प्रसङ्ग हुआ, अब हम यजुर्वेद के एक मन्त्र को यहांपर उद्धृत कर यह बात सिद्ध कर देते हैं कि, श्रीहंसावतार का वर्णन केवल श्रीमद्भागवतादि पुराणों ही में नहीं, वरन यजुर्वेद में भी है। देखिए,—यजुर्वेद, अध्याय १०, मन्त्र २४।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

अर्थात्—

वह भगवान् (हंसः) अहंकारहारी (शुचिषत्) आदित्यरूप से दीप्ति में रहनेवाले (वसु) मनुष्यों के प्रवर्त्तक (अन्तरिक्षसत्)

वायुरूप से आकाश में रहनेवाले (होता) देवताओं के आह्वान करनेवाले (वेदिषत्) अग्निरूप से वेदी में बैठनेवाले (अतिथि) अतिथिरूप से सबके पूजनीय (दुरोणसत्) आहवनीय से यज्ञ में बैठनेवाले (नृषत्) रामकृष्ण वा प्राणरूप से मनुष्यों में होनेवाले (वरसत्) उत्कृष्ट स्थान—क्षेत्र में बैठनेवाले (ऋतसत्) यज्ञ वा सत्य में स्थित होनेवाले (व्योमसत्) मण्डलरूप से आकाश में स्थित होनेवाले (अब्जाः) मत्स्यादिरूप से जल में होनेवाले (गोजाः) पृथ्वी में चतुर्विध भूतग्रामरूप से होनेवाले (ऋतजाः) सत्य में होनेवाले (अद्रिजा) पाषाण में मूर्त्ति और अग्निरूप से होनेवाले, वा मेघ–जलरूप से होनेवाले (बृहत्) महान् पर ब्रह्मरूप हैं।

इसके अतिरिक्त निरुक्तकार महामुनि श्रीयास्काचार्य ने अपने निरुक्तग्रन्थ में परमात्मा के नाम परिगणन में दो बार हंस शब्द को ग्रहण किया है,—यथा,—

(अथातमनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्युत्क्रमिष्यामः)

हंसः। धर्मः। यज्ञः। वेनः। मेघः। कृमिः। भूमिः।

विभुः। प्रभुः। शम्भुः। राभुः। वधकर्मा। सोमः। भूतम्।

भुवनम्। भविष्यत्। आपः। महत्। व्योम। यशः। महः

स्वर्णीकम्। स्मृतीकम्। स्वृतीकम्। सतीकम्। सतीनम्।

गहनम्। गभीरम्। गह्वरम्। कम्। अन्नम्। हविः। सद्म।

सदनम्। ऋतम्। योनिः। ऋतस्ययोनिः। सत्यम्। नीरम्।

हविः। रयिः। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हिः।

नाम। सर्पिः। अपः। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दुः। हेम।
स्वः। सर्गाः। शम्बरम्। अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः।
धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः।
स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्करम्। सगरः। समुद्रः। तपः।
तेजः। सिन्धुः। अर्णवः। नाभिः। वृक्षः। ऊर्ध्वः। तत्।
यत्। किम्। ब्रह्म। वरेण्यम्। हंसः। आत्मा। भवति।
बधन्त्यध्वानम्। यद्वाहिष्या। शरीराणि। अव्ययं। च
संस्कुरुते। यज्ञः। आत्मा। भवति। यदेन तन्वते॥

अब हमें केवल एक बात और कहनी है और वह यह है कि इस चरित्र की लेखनप्रणाली सर्वाङ्गसुन्दर नहीं हुई है, क्यों कि इसमें अभी बहुतेरी त्रुटियां रह गई हैं, और ऐसा इसलिये हुआ है कि एक तो पर्याप्तरूप से अभी विपुल सामग्री नहीं प्राप्त हुई है, दूसरे हममें उतनी योग्यता भी नहीं है कि हम अपने सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक श्रीहंसभगवान् का सर्वाङ्ग सुन्दर चरित लिखने का साहस कर सकें! हां, हमसे जहां तक होसका, हमने कुछ थोड़ी बहुत सामग्री यहां पर इकट्ठी करदी है, अतएव यदि कोई असाधारण-प्रतिभा-सम्पन्न साम्प्रदायिक तत्त्वज्ञ विद्वान् इस चरित को विशदरूप से लिखेंगे तो आशा है कि कालान्तर में यह चरित सर्वाङ्गसुन्दररूप से ग्रथित होकर सहृदय-वृन्दों के हृदयों को आशातीत आनन्द प्रद होगा।

बस, अब अन्त में हम श्रीहंसभगवान् की पुनः वन्दना करते हैं,–

यो ब्रह्मेशसुरर्षिपूज्यचरणः,
श्रुत्यन्तगम्यो हरि-
र्वात्सल्यादिगुणाकरश्च जगतो,
जन्मादिहेतुः कविः॥
तत्त्वातत्त्वविवेचकश्च परमो,
मुक्तोपसृप्यो गुरु-
स्तं हंसं मनसा गिरा च प्रणमे,
मुक्तिप्रदं माधवम्॥ १॥

तथा बधाई के कतिपय पद नीचे लिखकर इस प्रबन्ध को परिपूर्ण करते हैं,—

श्रीहंसभगवान् की बधाई।

॥ दोहा॥ ऊर्जमास नौमीसुकल, प्रगटे श्रीमद्धंस। सुरनरमुनि जैजै करैं, त्रिभुवन सबै प्रसंस॥१॥ सोरठा॥ कोटि-सूर्य-समभान, भवन-चतुर्दश तमहरन। करौ जु निस दिन ध्यान, सनकादिक-सेवितचरन॥२॥ ॥दोहा॥ ताहीछिन प्रगटे हरी, पुत्रपौत्र के हेत। आद्यनादि भगवान प्रभु, हंसरूपधर श्वेत॥३॥ शरणागत कर मंत्र दै, किये शिष्य सनकादि। तबतें ये मारग-चल्यौ, शिष्यसंप्रदा आदि॥ ४॥ राग सोरठ॥ दोहा॥ ॥ पदतिताल॥ प्रगटे हंसरूप नारायन। कार्तिक शुक्ल पक्ष नौमी दिन, सनकादिक उपदेसन॥ टेक॥ संप्रदाय मारग थापनहित, प्रथम भये अवतार। जग के आदि स्वादरसकारन, पार करन संसार॥ निज रहस्य के पात्रजानि मन, दिखरायो सुखसार। श्रीगोपाल मंत्र

दै पावन, वृंदाबन अधिकार ॥ भक्तिरूप दीनों रंगभीनो, ततसुख कृपा अपार। प्रेमपरे उत कृष्ण परा, जिन देत न लाई बार॥ ब्रह्माजू अधिकार-मग्न भे, निरखैं नित्यबिहार। अँगिवानी परिकर की करिकैं, रूपरसिक प्रभु लैं बलिहार ॥ ५ ॥ जैजै श्रीहंसरूप भगवान। सनकादिक उपदेश हि कारन, प्रगट उदै भये भान ॥ जैजै। टेक॥ क्षीर-नीर ज्यों, विषै-चित्त कूं, भिन्न भिन्न कर ठान। प्रगट कियो जो तत्त्व पदारथ, गावैं बेद पुरान ॥ सनकादिक ये मारग अनुसर, मत अबिरोध बखान। नारदादि ऋषि जिन पद परसे, पावत सुख सुखदान॥६॥ आजु महा मंगल भयो माई। श्रीकृष्णजू हंसरूप धरि प्रगटे, आनँद कह्यो न जाई॥ श्रीसनकादिक नारद निंबारक सब के हिये सिराई। प्रियासखी छबि कही न जाइय, कछु देखत कोटिक चंद लजाई॥७॥ नमो नमो जै श्रीमत हंस। ब्रह्मा चिंतत प्रगट भये प्रभु, मुनिजनमानसरोवरहंस ॥ सनकादिक हित यह बपुधारयौ प्रश्नोत्तर मिस किये नृशंस। ज्ञान बैराग भक्ति के सागर, नमोनमो जैश्रीमतहंस॥८॥ नमो नमो जैजै श्रीहंस। कोटि भान सम तेज प्रकाशित, तिमिर अज्ञान कियो सब ध्वंस ॥ ब्रह्मादिक सुरनर मुनि गावत, ज्ञान बैराग्य भक्ति के शंस। प्रियासखी के हिये बसौ नित, त्रिभुवन के अवतंस॥ ९ ॥

इतिश्रीहंसावतारचरितसम्पूर्ण।

शरणागत करि मन्त्र दै, किए शिष्य सनकादि ।
तबतें यह मारग चल्यौ, शिष्यसम्प्रदा आदि ॥११॥
ज्ञान-भक्ति-वैराग्य के, ये आचारज-राय ।
पञ्चवर्ष नैष्ठिक सदा, शरणागत-सुख पाय ॥१२॥
श्रीनिवृत्ति-मारग प्रगट, श्रीकुमार-अवतार ।
जे शरणन इनकी भए, ते उतरे भवपार ॥१३॥
शिष्य भए तिनके परम, महाभागवत ऐन ।
देव ऋषी नारदमुनी, त्रिभुवन-जन-सुखदैन ॥१४॥
निशिदिन श्रीहरिगुन-गनन, गावत बीन बजाइ ।
भ्रमन करत तिहुंलोक महं, जनकलिकलुष नसाइ ॥१५
भए शिष्य तिनके महा, मुनिवर आरुणि देव ।
सकल चराचर विश्व नित, जिनके जुगपद सेव ॥१६॥
श्रीनिम्बारक नाम लहि, श्रीहरिमारग नित्य ।
थिर थाप्यो संसार में, बहुमत भेटि अनित्य ॥१७॥
भए शिष्य तिनके निपुण, श्रीनिवास गुरुदेव ।
भाष्यकार भगवान जग, जिन पायो हरिभेव ॥१८॥
गुरु-अनुकम्पा तें लह्यो, श्रीहरिदरस अनूप ।
निजजनहित संसार में, भए आपु हरिरूप ॥१९॥
तिनकी शरणागति गहौ, निजजन परम उदार ।
मायामय संसार तें, होइ वेगि उद्धार ॥२०॥
करहुं जुगलकर जोरि कै, पुनि पुनि सीस नवाइ ।
श्रीहरि लीजै सरन मोहिं, मधुर मन्द मुसुकाइ ॥२१॥
यह गुरुमहिमा पढ़हिं नित, जे जन परम सुजान ।
तिनहिं वेगि अपनावहीं, श्रीपति श्रीभगवान ॥२२॥

श्रीश्रीहंसगोपालो जयति ।

श्रीहंसावतारचरित ।

(भाषापद्य-दोहा)

सकल-विश्व-कारण सदा, बन्दौं श्रीभगवान ।
बरनि कहौं वंशावली, गुरुपद-रज कर ध्यान ॥१॥
आद्यनादि भगवान हरि, सबजगकारण बीज ।
नारायण अवतार धरि, जलनिधिकारन कीज ॥२॥
सुखशैया रचि शेष कौ, सोए कमलाकान्त ।
तासु नाभि पङ्कज भयो, ता मधि बिधि एकान्त ॥३॥
ब्रह्मा सब जग को पिता, सृष्टि करन के हेत ।
तप करि हरि राजी किए, प्रभु बांछित फल देत ॥४॥
भजन-तेज-तप को जु फल, प्रथम सृष्टि में आदि ।
दिनकर-सनमम तेज भे, चार पुत्र सनकादि ॥५॥
कृतयुग कार्त्तिक शुक्र दिन, अक्षयनवमी जान ।
सनकादिक अवतार ह्वै, कियो प्रश्न पितु मान ॥६॥
विषय पञ्च अरु चित सदा, ओत-प्रोत से भात ।
गुन तजि चित न्यारो जु अस, सो प्रकार कहु तात ॥७॥
चतुरानन यह बचन सुनि, इकटक रह्यौ निहार ।
सोचतही मन मैं कह्यौ, हरि तुम करौ सम्हार ॥८॥
ताही छिन प्रगटे हरी, पुत्र पौत्र के हेत ।
आद्यनादि भगवान प्रभु, हंसरूप धरि श्वेत ॥९॥
विषय-चित्त को त्याग पुनि, रुवैश्वर में प्रीति ।
ज्ञान-भक्ति उपदेश करि, जो आचारज रीति ॥१०॥